

शिक्षा में साझेदार ?

कृष्ण कुमार

लेखक परिचय :

जाने-माने शिक्षाविद, वर्तमान में एनसीईआरटी के निदेशक

पुस्तक :

राज समाज और शिक्षा, शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व, सोशियल करेक्टर ऑफ लर्निंग, बच्चे की भाषा और अध्यापक, गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, मेरा देश तुम्हारा देश

सम्पर्क :

निदेशक

एनसीईआरटी, श्री अरविन्दो मार्ग
नई दिल्ली - 110016

शिक्षा से सरोकार रखने वाले कई व्यक्तियों व संस्थाओं का मानना है कि सरकार फिलहाल जिन स्कूलों के लिए जिम्मेदार है उनका संचालन दूसरों को सौंप देना बेहतर होगा। दूसरी ओर सरकारी अधिकारियों का भी एक खासा बड़ा समूह है जिसे लगता है कि सरकारी स्कूल दक्षता के जिस नीचे स्तर पर काम कर रहे हैं उसमें खास सुधार लाने की गुंजाइश नहीं है, इसलिए क्योंकि भ्रष्टाचार और नकारापन समूची व्यवस्था में ही गहरे पैठ चुका है।

कटु आलोचकों तथा शंकालु अधिकारियों के बीच वे तमाम तर्क एक-दूसरे को पुष्ट करते गुंज रहे हैं कि सरकार को पीछे हट जाना चाहिए। यद्यपि सरकारी शिक्षा व्यवस्था जिस धीमी रफ्तार से कमजोर बनाई और खुर्दबुर्द की जा रही है, वह न तो व्यवस्था के बाहर बैठे आलोचकों को संतुष्ट कर पा रही है न ही व्यवस्था से जुड़े अधिकारियों को, फिर भी यह प्रक्रिया बाकायदा चालू है। राजनीतिक दृष्टि से शिक्षा के निजीकरण का समय न तो बिल्कुल सही है न ही गलत, क्योंकि चुनावी प्रचार-प्रसार में शिक्षा का वह महत्त्व नहीं है जो सड़क या बिजली मुहैया कराने का है। शिक्षा पर अधिक ध्यान देने से जो राजनैतिक लाभ मिल सकता है उसे खास नहीं माना जाता; और उसकी उपेक्षा से होने वाले नुकसान को भी नगण्य ही माना जाता है।

बेशुमार तर्क

जो आलोचक सरकार को शिक्षा मुहैया करवाने में सबसे बड़े खिलाड़ी की स्थिति से अपदस्थ करना चाहते हैं उनके पास अपने पक्ष को विचारणीय बनाने के वास्ते तमाम आंकड़े और तर्क हैं। शिक्षकों की गैरहाजरी से संबंधित आंकड़े, उदाहरण के लिए, सतही होने के बावजूद यह कहने में मदद करते हैं कि सरकारी व्यवस्था में रिसाव है। इसी तरह स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों के आंकड़ों को या उनकी उपलब्धियों के निम्न स्तर को अगर सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से काट कर देखा जाए तो यह सिद्ध हो सकेगा कि स्कूलों में सरकारी निवेश फिजूलखर्ची है।

निजीकरण समर्थक लॉबी द्वारा सुझाई गई लफ्फाजीदार रणनीतियों के क्रम में ताजा-तरीन है वाउचरों की पैरवी। 'गुणवत्ता' संबंधी लोकप्रिय विमर्श का इस्तेमाल कर उन्होंने शिक्षा में मुक्त व्यवसाय के वादे के लिए सम्मान चाहा है। इस कोशिश में उन्हें मदद इस बात से मिली कि नवें दशक में नीति में अवधारणात्मक स्तर पर 'पहुंच' को 'गुणवत्ता' से जुदा किया गया और बाद में जो ढांचागत बदलाव आए उनके दस्तावेजों में इस विभेद को जगह मिली। निजीकरण समर्थक तर्क अगर कहीं कमजोर है तो इस बिन्दु पर कि वे दुनिया भर से एक भी ऐसे राष्ट्रीय मॉडल का दृष्टान्त नहीं दे सके जहाँ शिक्षा देने वालों में सरकार प्रमुख न हो। इस तरह के सवाल के जवाब अलग-अलग तरह से दिए गए हैं जिनमें यह दावा करने कि भारत का मामला अनूठा है, से लेकर अन्य देशों में भी निजी शिक्षा सेवाएं बढ़ रही हैं; तक शामिल हैं।

उम्मीद की जा सकती थी कि आधिकारिक विमर्श इस बिन्दु का सहारा लेगा कि दुनिया भर में कहीं भी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था बिना सरकारी पहल के विकसित नहीं हुई है। परन्तु नवें दशक के मध्य तक इस बिन्दु को रेखांकित करने का चलन ही घटने लगा। अतः शिक्षा की चुनौती की व्यापकता को पहचानना और स्वैच्छिक प्रयासों को प्रोत्साहित करना, तर्कों का दर्जा पा सके।

सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की साझेदारी

किसी नजरिए को ऊंचा दर्जा देने का एक तरीका है उसे नया घोषित कर देना। ठीक इसी रूप में सार्वजनिक-निजी साझेदारी (अंग्रेजी में पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप या पीपीपी) का आगाज एक नए अभिगम की तरह किया गया। जब कोई विचार एक प्रचार-नारा बन जाता है तो एक तरह की विशिष्ट पारदर्शिता अख्तियार कर लेता है, मतलब उसका कुछ अर्थ इतना स्पष्ट लगने लगता है कि हर बार उसका निहितार्थ निकालने-समझने की दरकार तक नहीं लगती, जबकि उसके दूसरे हिस्से पर हमारा ध्यान तक आकर्षित नहीं करते। लगता है ठीक यही पीपीपी के जुमले के साथ भी हुआ है। एक पारिभाषिक शब्द के रूप में अगर इसे हाल में हासिल नया रूतबा न मिला होता तो हमें शायद यह याद आता कि इससे कुछ भी नया सम्प्रेषित नहीं हो रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान जिन संस्थानों ने श्रेष्ठता के लिए ख्याति अर्जित की उनमें से कई निजी पहलों के उदाहरण थे जिन्हें बाद में सार्वजनिक या सरकारी सहयोग मिला था। ब्रिटिशों द्वारा प्रस्तावित 'ग्रान्ट-इन-एड' व्यवस्था की शुरुआत ही इसलिए की गई थी कि भारतीय आबादी को शिक्षित करने की जिम्मेदारी स्वयं ओढ़ने के बदले सार्वजनिक राजकोष उसमें भागीदारी करे। जो तर्क सामने रखा गया वह यह था कि सरकार शिक्षा में स्थानीय लोगों की रुचि को प्रोत्साहित करना चाहती है। 'अनुदानित (एडेड) स्कूल' का यह मॉडल जिसमें औपनिवेशिक युग की स्पष्ट छाप है जो सौ साल बाद भारत के कई हिस्सों में अपनी समूची कमजोरियों समेत आज भी बाकायदा बरकरार है।

औपनिवेशिक काल से आज तक शिक्षा के क्षेत्र में ढांचागत बदलाव न्यूनतम हुआ है, जिसका ठोस सबूत देते हुए सरकारी अनुदान प्राप्त निजी पहल से संस्थागत विस्तार का आज नए सिरे से पुरजोर अनुमोदन किया जा रहा है। सरकार अपने सभी बच्चों को इस प्रकार शिक्षित करने की प्राथमिक जिम्मेदारी स्वीकारने से लगातार कतराती रही, जिसमें व्यवस्था को सुधारना जरूरी हो। पीपीपी के अर्थ का यह पक्ष काफी जाहिर है। पर जो अर्थ अस्पष्टता में दुबका हुआ है उसका वास्ता, खासतौर से गैर-सरकारी संगठनों के संदर्भ में आउटसोर्सिंग की संस्कृति से है।

गैर-सरकारी संगठनों को जिम्मेदारी सौंपना

गैर-सरकारी संगठनों को जिम्मेदारी सौंपने की हकीकत पर सावधान विवेचना की दरकार है क्योंकि 'गैर-सरकारी' संगठन या एनजीओ शब्द उन विविध प्रकार के प्रयासों के लिए काम में लिया जाता है जो जनादेश की अनुपालना में सरकार की अकुशलता व अक्षमता की क्षतिपूर्ति के लिए हो रहे हैं। इसके तहत ऐसे छोटे स्तर की पहलें भी हैं जिन्हें उस अर्थ में भी 'स्वैच्छिक' कहना चाहिए जो तीन दशक पहले इस शब्द का हुआ करता था।

कुछ पहलें तो ऐसे नवाचार को कटिबद्ध रहीं हैं जिनकी कल्पना सरकारी स्कूलों में की ही नहीं जा सकती। स्वैच्छिक पहल का शब्दशः अनूठा दृष्टान्त है होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम - जिसे किशोर भारती ने सातवें दशक में प्रारंभ किया और जिसे हाल तक एकलव्य (भोपाल) आगे चलाता रहा, जब तक कि सरकार ने उसे उन कारणों के लिए बन्द न कर दिया जिनके विषय में सिर्फ अटकलें ही लगाई जा सकती हैं।

इसके अलावा सुस्थापित गैर-सरकारी संगठन भी हैं जिन्होंने स्थानीय या क्षेत्रीय जरूरतों के अनुरूप छोटे पैमाने पर कुछ पहलें शुरू कीं, पर जो बाद में आकार व निरंतरता की दृष्टि से काफी फैले। इनमें से कुछ को जहां कहीं अनुमति मिली सरकारी शिक्षा व्यवस्था के तहत काम करने का अनुभव भी मिल सका है। सातवें दशक में इस श्रेणी में जहां बमुश्किल एक उदाहरण सामने था, आज ऐसे उपक्रमों की संख्या कम होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने नवाचार करने की सरकार की स्वाल्प क्षमता में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

एक तीसरी उप-श्रेणी नैगमिक (कॉरपोरेट) गैर-सरकारी संस्थाओं की है जो उस स्तर पर काम करते हैं जिसकी कल्पना तक पहले दो श्रेणी के संगठन नहीं कर सकते। यहां 'नैगमिक' शब्द का उपयोग उनके विशाल वार्षिक बजट और प्रबंधन के तौर-तरीकों के लिए किया जा रहा है जो स्वैच्छिक संगठनों के बजाय कॉर्पोरेशनों के निकट हैं। इस तीसरे प्रकार के गैर-सरकारी संगठन खुल्लम-खुल्ला सरकार से स्पर्धा करते हैं और दावा करते हैं कि सरकारी प्रयास वृथा हैं, अतः उसे अपनी जिम्मेदारी सौंप देने से समझौता कर लेना चाहिए, खासकर गरीबों की शिक्षा और उनके स्वास्थ्य संबंधी जिम्मेदारी। यह विचार कि गैर-सरकारी संगठन सीमित संसाधनों पर निर्भर स्थानीय संस्थाएं हैं कॉरपोरेट गैर-सरकारी संगठनों के संदर्भ में सच में पुराना पड़ चुका लगता है। इस तरह के कई गैर-सरकारी संगठनों की आज मजबूत संभागीय उपस्थिति है और कईयों की अन्तर-संभागीय या राष्ट्रीय उपस्थिति भी है। उनका संसाधन आधार भी विशाल है, कुछ की दुनिया भर के वित्तीय

कोषों तक पहुंच है, खासकर प्रवासी भारतीयों के माध्यम से। यद्यपि उनके अस्तित्व और काम का जाहिर कारण शिक्षा है, पर जिस दृष्टि (दृष्टियों) को आधार बनाकर वे भारत का शैक्षिक विकास करना चाहते हैं वे विविध हैं। इनमें विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि जैसे कट्टरपंथी धार्मिक समूहों की दृष्टि से लेकर एक समृद्ध भारत की आर्थिक दृष्टि तक शामिल है जिसमें गरीबों को दी जाने वाली सेवाओं का प्रबंधन कुशलता के उस बेहतर स्तर का होना चाहिए जो सरकार की क्षमता के बाहर है।

पीपीपी को वैधता देना

गैर-सरकारी संगठन के लेबल के चाहे कितने भी भिन्न-भिन्न अर्थ क्यों न हों, एनजीओ के तथ्य ने शिक्षा के पीपीपी मॉडल को वैध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। “साझेदारी” शब्द का सामान्यतः जो मतलब समझा जाता है वह संस्थाओं के संचालन की जिम्मेदारी को मिलजुल कर बांटने के बदले, परिक्षेत्रीय बंटवारे का है। दूसरे शब्दों में सार्वजनिक-निजी साझेदारी (पीपीपी) संस्थाओं के स्वामित्व को एक ओर निजी उद्यमियों व गैर-सरकारी संस्थाओं व दूसरी ओर सरकार या राज्य को बांटने की रणनीति है न कि संस्था में निहित कामों को बांटने की। यह अर्थ साफ करता है कि शिक्षा उपलब्ध करवाने वाली निजी संस्थाओं या गैर-सरकारी संस्थाओं को यह एतबार ही नहीं है कि सरकार में अपनी संस्थाओं को सुधारने की या स्कूलों व व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं के साझे संचालन की जिम्मेदारी उठा पाने की या शिक्षक प्रशिक्षण संचालित करने की लियाकत है। अतः मौजूदा अर्थ में यह ऐसा मॉडल नहीं है जिसका लक्ष्य शैक्षणिक संस्थाओं के संचालन में आने वाली समस्याओं से निपटने के लिए साझे प्रयास करना हो।

यद्यपि पीपीपी का तर्क सरकारी अकुशलता है, पर उससे निपटने का जो रास्ता यह पेश करता है उससे न तो राहत की उम्मीद की जा सकती है, न सुधार की। यही कारण है कि अगर यह माना जाए कि पीपीपी नए नामकरण की आड़ में एक ऐसे समाज में शैक्षिक सुविधाओं की कमी का लाभ उठाने की रणनीति है जहां अब शिक्षा की ऊंची मांग है। निजी शिक्षा के इतिहास में स्तरीय शिक्षा देने वाले धर्मार्थ प्रयासों की भूमिका सीमित रही है जबकि मुनाफा कमाने को लक्ष्य स्वीकारना अनुचित (और गैर कानूनी) रहा है। निजी सेवादाता और उनके समर्थक इसलिए शैक्षिक उपक्रमों के स्वाभाविक व्यावसायिक पक्ष को ढांकने में सफल रहते आए हैं।

न्यायपालिका ही एकमात्र संस्था है जिसने यह कह कर वातावरण साफ किया है कि शैक्षणिक संस्था खोलना अपना काम-धंधा करने के अधिकार का हिस्सा है। आधिकारिक और सामाजिक, दोनों ही दायरों में अब भी निजी सेवादाताओं की यह स्वीकारोक्ति वीभत्स

सुनाई देती है कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा भी दूसरे ही धंधों की तरह एक धंधा है।

सरकार की प्रतिक्रिया

निजीकरण के पक्ष में दावों के विषय में सरकार की प्रतिक्रिया में हम एक तरह का भय और साथ ही व्यवस्था में सामान्य सुधार की संभावना के प्रति बढ़ा हुआ संदेह भी नजर आता है। कुछ अच्छे दृष्टान्तों पर ध्यान केंद्रित करने की रणनीति जारी है, जो इस दृष्टिकोण को रेखांकित करती है कि सरकार कुछ स्कूल जरूर बढ़िया तरीके से चला सकती है पर निश्चित रूप से सभी नहीं।

यह कहना कठिन है कि सरकारी दायरों में आत्मनिंदा और हतोत्साही चर्चा का जो प्रचलन बढ़ा है उसके लिए कौन से घटक जिम्मेदार हैं। इसके कई संभव कारणों पर सोचा जा सकता है। पहला तो यह हो सकता है कि सरकारी अधिकारियों में नव-उदारवाद व वैश्वीकरण का वैचारिक विमर्श तेजी से फैला है। शासन के नव-उदारवादी सिद्धान्त में जो मुख्य विचार है वह कहता है कि बाजार के इस खेल में जितने खिलाड़ी हैं, सरकार को उनमें से एक मानना चाहिए। सरकार सबसे अच्छा योगदान यही कर सकती है कि वह एक ऐसे मध्यस्थ की भूमिका निभाए जिसके पास सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने की सत्ता और सामर्थ्य हो, ताकि बाजार पनप सके। सरकार ही इस उपकरणवादी धारणा में अच्छा शासन सौंपे गए कामों को पूरा करने की गतिविधि मात्र है। इसलिए कम से कम शिक्षा के संदर्भ में संस्था निर्माण में लम्बे-अर्से के निवेश को पुरातनपंथी और अनावश्यक मानने के अलावा वित्तीय बोझ भी माना जाता है। इसलिए यह जिम्मेदारी दूसरों को इस वादे के साथ सौंपना पसन्द किया जाता है कि बिना किसी दूरगामी दायित्व का बोझ बढ़ाए निकट भविष्य में क्रमशः, परन्तु काफी हद तक शिक्षा का तामझाम समेट लिया जाएगा, और जो बेहद जरूरी काम है उन्हें तत्काल भविष्य में पूरा कर लिया जाएगा।

इस नजरिए के कई आकर्षण हैं। पहला यह कि सरकार का समग्र उत्तरदायित्व कुछ विशिष्ट कार्यों में तब्दील हो जाता है, जिनमें से कम से कम कुछ दूसरों को सौंपे जा सकते हैं। अन्य आकर्षण पैरवी के माध्यम से जोड़े गए हैं, जिनमें लचीलेपन और विकेन्द्रीकरण की संभावना, निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में राजनीतिक दबाव में कमी तथा लाभार्थियों के लिए स्टेकहोल्डर या “दावेदार” की अवधारणा का प्रयोग। सकारात्मक रूप से देखने पर नव-उदारवादी सिद्धान्त की ये विशेषताएं एक ऐसा मॉडल सामने रखती हैं जो अफसरशाही के भ्रष्ट आचरण से भिन्न नजर आता है। यह भी लगता है कि नाजायज राजनीतिक प्रचार की ओर भी इस मॉडल का रुझान नहीं होगा। पर यह एक थोक पैकेज पेश करता है जो

यातायात की व्यवस्था के लिए भी उतना ही कारगर माना जाता है जितना शिक्षा के लिए और यहीं यह मॉडल डगमगाता भी है। इस तरह का सामान्यीकृत वादा कर नव-उदारवादी सिद्धान्त के संदर्भ शिक्षा में संस्थानीकरण की भूमिका को ही और इस संस्थानीकरण में सरकार की जो भूमिका है, उसे नजरअंदाज कर देता है।

संस्था निर्माण और व्यवस्था के अन्दर ढांचागत बदलाव की उपेक्षा से शिक्षा द्वारा समाज की बौद्धिक व रचनात्मक संभावनाओं को उभारने के सामने भारी खतरा उपस्थित होता है।

उपकरणवादी नजरिया

शिक्षा की उपकरणवादी दृष्टि अनिवार्यतः फौरी कामों पर ध्यान केंद्रित करती है, जिसमें आपदा प्रबंधन भी शामिल है। यह तथ्य कि शिक्षा पहुंच और गुणवत्ता संबंधी सतत आपात स्थिति का सामना कर रही है, अल्पकालीन दृष्टिकोण पनपाने में और उससे जुड़ी रणनीतियों को व्यापक स्वीकृति दिलाने में मदद करता है। यद्यपि पीपीपी की मौजूदा विचारधारा के समर्थकों को यह नागवार गुजरेगा, फिर भी पीपीपी को संस्थागत स्तर पर साझी जिम्मेदारी के रूप में पुनः परिभाषित करने की संभावना तलाशी जानी चाहिए।

कोई अचरज नहीं कि पीपीपी के पैरोकार इस बात से कतई प्रभावित नहीं हैं कि जिन पूर्णतः सक्रिय साझेदारी के दृष्टान्तों ने नव-उदारवादी विचारधारा का विरोध किया या उसकी उपेक्षा की, उन्हें तमाम तरह की अड़चनों का सामना करना पड़ा। इनमें सर्वाधिक ज्ञात दृष्टान्त है मध्यप्रदेश में एकलव्य नामक संस्था के विज्ञान व सामाजिक विज्ञान कार्यक्रमों का। इन विलक्षण पहलों ने सरकारी व्यवस्था में बदलाव की अभूतपूर्व ऊर्जा जगाई थी, फिर भी उनका गला घोंटा गया।

आंध्र प्रदेश के एम.वी.फाउन्डेशन का कार्य भी सार्वजनिक निजी साझेदारी या पीपीपी का उदाहरण है, पर उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में इसे अब परिभाषित किया जा रहा है। एम.वी.फाउन्डेशन ने ग्रामीण, समाज के हाशिए पर जी रहे लाखों बच्चों को सरकारी स्कूलों में दाखिल किया है, बारीक प्रबोधन द्वारा गरीब बच्चों को स्कूलों में टिकाए रखने की स्कूलों की क्षमता में भी यह फाउन्डेशन इजाफा करता है। पर आज तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला कि सरकार फाउन्डेशन के काम को साझेदारी का उदाहरण मानती हो। इतना ही नहीं यह तथ्य भी उतना ही निराशाजनक है कि पीपीपी के पैरोकार भी इसे न तो एक मॉडल मानते हैं न उसका अनुमोदन करते हैं। जाहिर है कि उनका समूचा ध्यान स्कूल संचालन पर केंद्रित है, व्यवस्था सुधारने पर नहीं।

शिक्षक प्रशिक्षण

व्यवस्था की साफ नजर आने वाली खामियां और उसके उपेक्षित क्षेत्र भी उन्हें आकर्षित नहीं करते। भारतीय स्कूली परिदृश्य का अवलोकन करने वाला कोई भी व्यक्ति यह देख सकता है कि जो क्षेत्र गहनतम अंधकार से ग्रस्त है वह शिक्षक प्रशिक्षण का है। इसकी उपेक्षा ने इसे एक राष्ट्रीय मजाक के स्तर तक पहुंचा दिया है। जहां एक ओर देश के अधिकांश हिस्सों में स्थित जिला शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थान (डायट) व राज्य शिक्षा अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एससीईआरटी) सड़ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर शिक्षा में स्नातक (बीएड) बनाने वाले व्यावसायिक कॉलेज, जिनमें गुणवत्ता तो दूर की बात है, संस्थागत निष्ठा तक नामौजूद है, हर ओर कुरूप मस्सों की तरह उग आए हैं।

पीपीपी के पैरोकार अच्छे शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं स्थापित करने की बात क्यों नहीं करते ? भारत को कम से कम 10 आईआईटी-आईआईएम स्तर के शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं की, और विशिष्ट संभागीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक और संस्थाओं की दरकार है। लगता है कि जिला शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थानों के द्रुत पतन के बाद से केंद्र सरकार और राज्यों की नए शिक्षण प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना में कोई रुचि नहीं है। इस क्षेत्र में निश्चित रूप से सार्वजनिक-निजी साझेदारी की संभावना है। यह तथ्य कि आवश्यकताओं के संदर्भ में इसका कोई जिक्र नहीं किया जा रहा, इस नजरिए को मजबूती देता है कि पीपीपी कोई ऐसा विचार नहीं है जिसकी कोई धरोहर हो, बल्कि एक ऐसी विचारधारा है जो निजीकरण को स्कूलों की संख्या बढ़ाने की सरकारी जिम्मेदारी को घटाने का माध्यम भर है। ◆

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

(‘इकॉनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली’ के
19 जनवरी, 08 अंक से साभार)